

प्राचीन भारत में राज्य संस्था का उदय एवं विकास

नरेन्द्र कुमार सैनी – असिस्टेंट प्रोफेसर (इतिहास), जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनू, नागौर

Email : saini141180@rediffmail.com

सारांश –

प्राचीन भारत में प्रारंभ से ही सामाजिक व्यवस्था एवं सुरक्षा को बनाये रखने के लिए राज्य की आवश्यकता को समझा गया था। ऐसी अवधारणा भी कि यदि राज्य अपराधियों को दण्ड नहीं देता तो समाज में अव्यवस्था (मात्स्यन्याय) उत्पन्न हो जायेगी। राजदण्ड के डर से ही मनुष्य न्याय के मार्ग पर चलते हैं तथा न्याय ही उनका रक्षक है। महाभारत में कहा गया है कि “यदि दण्ड धारक राजा पृथ्वी पर न हो तो सबल निर्बल का भक्षण उसी प्रकार करेंगे जिस प्रकार जल में बड़ी मछली छोटी मछली का भक्षण करती है। कौटिल्य ने भी इस मत की पुष्टि करते हुए इसी प्रकार के विचार प्रकट किये हैं— “व्यवस्था के अभाव में मात्स्यन्याय की स्थिति उत्पन्न होती है— बलवान मनुष्य निर्बलों का दमन करते हैं।” इस प्रकार प्राचीन भारतीय मनीषियों ने सुशासन के लिए राज्य एवं राजा के अस्तित्व को अपरिहार्य माना है। इस प्रकार क्रमिक रूप से राज्य का प्रादुर्भाव एवं विकास निरन्तर होता रहा। प्रायः विभिन्न समय में विभिन्न विचारकों ने मत पर विभिन्न सिद्धान्तों के माध्यम से प्रकाश डाला है। भारत के प्राचीन ग्रंथों में भी इस विषय पर उल्लेखनीय विवरण लिपिबद्ध किया गया है।

राज्य संस्था का प्रादुर्भाव एवं विकास किस प्रकार हुआ, प्राचीन भारतीय साहित्य में अनेक स्थानों पर इस विषय का विषद रूप से निरूपण किया गया है। इस संबंध में सबसे प्राचीन निर्देष अथर्ववेद में मिलता है। इसमें मानव समाज और उसकी संस्थाओं के क्रमिक विकास का बड़े सुन्दर व स्पष्ट रूप से वर्णन है। पहले अराजक दशा थी, जिससे सब लोग भयभीत व आषंकित हो गये। महाभारत में भी इसी विचार को प्रगट किया गया है। इस स्थिति से भयभीत होकर सबसे पहले लोग परिवार के रूप में संगठित हुए। मानव समाज का सबसे पहला संगठन ‘परिवार’ ही था, जिसमें पति, पत्नि व सन्तान एक संगठित व मर्यादित जीवन व्यतीत करते थे। पारिवारिक संगठन के उपरान्त ‘आहवनीय’ दशा आई। आहवनीय शब्द का अभिप्राय एक ऐसे संगठन से है, जिसमें बुलाया जाय, आह्वान किया जाए। संभवतः यह ग्राम के संगठन को सूचित करता है, जिसमें विविध कुलों के कुलमुखियों को आह्वान द्वारा एकत्र किया जाता था। आहवनीय संस्था के बाद ‘दक्षिणाग्नि’ संस्था का विकास हुआ। दक्षिण का अर्थ चतुर है, और अग्नि का अग्रणी। निरुक्त वेदांग में अग्नि की निरुक्ति अग्रणी के रूप में की गई है। इस संस्था में संभवतः ग्राम के चतुर अग्रणी एकत्रित होते थे। यह ग्राम की अपेक्षा अधिक बड़े संगठन को सूचित करता है, जो जनपद या राष्ट्र का ऐसा संगठन था, जिसमें ग्रामों के योग्य नेता (ग्रामणी) एकत्र होते थे। इसके बाद सभा और समिति नामक संस्थाओं का विकास हुआ, जो जनपद की प्रमुख राजनीतिक संस्थाएँ थी। इनका वैदिक साहित्य में अनेक स्थानों पर उल्लेख हुआ है। अथर्ववेद में इन्हें प्रजापति की दुहिताएँ कहा गया है। सभा ग्रामीण स्तर की सुसंगठित संस्था थी जिसमें ग्राम के मुखिया, विषिष्ट जन, वयोवृद्ध आदि इसके सदस्य होते थे जिन्हें ‘सभेय’ कहा जाता था। सभा समिति की अपेक्षा छोटी संस्था थी और कतिपय विषिष्ट व्यक्ति ही सम्मिलित होते थे। अथर्ववेद में इसे नरिष्ठा भी कहा गया है। राष्ट्र के प्रधान न्यायालय का कार्य भी सभा द्वारा ही किया जाता था। समिति एक केन्द्रिय संस्था थी। ऋग्वेद के एक मंत्र में राजा के समिति में शामिल होने के लिए जाने का निर्देष किया गया है। जन अथवा जनपद के सभी व्यस्क व्यक्ति इसके सदस्य होते थे। यह संपूर्ण प्रजा का प्रतिनिधित्व करती थी। सभी प्रमुख पदाधिकारी भी समिति की बैठक में उपस्थित होते थे। इसके अध्यक्ष को ईषान कहा जाता था। यह राजा पर नियंत्रण भी रखती थी कि राजा अपने कर्तव्यों का उचित प्रकार से पालन करे। ऋग्वेद के एक सुक्त में उल्लेख मिलता है कि सभा और समिति के सदस्य परस्पर सहयोग से कार्य करें। उनके मन एक हों, उनकी वाणी एक हों, उनका विचार—विमर्ष एक समान हो और वे एक ही नीति का निर्धारण करें। इस प्रकार अथर्ववेद के अनुसार राज्य संस्था क्रमिक विकास का परिणाम है। यह सिद्धान्त वर्तमान समय के राजनीतिशास्त्र के सिद्धान्तों से अनेक अंशों में समानता रखता है। इसे हम विकासवादी सिद्धान्त समझ सकते हैं।

अराजक दशा और राज्य की उत्पत्ति — महाभारत के शांति पर्व में राज्यसंस्था के प्रादुर्भाव पर बड़े विस्तार से विचार किया गया है। इसके अनुसार राज्य संस्था से पूर्व ‘अराजक’ दशा थी और बाद में राज्य की उत्पत्ति हुई। युधिष्ठिर ने भीष्म से प्रश्न किया— ‘यह जो सर्वत्र राजा शब्द प्रचलित है, इसकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई, यह मुझे बताईए। राजा के हाथ, पैर, मुख, मांस, श्वास, प्राण, बुद्धि आदि अन्य सबके तुल्य है। सबके समान उसे भी सुख—दुःख का भोग करना पड़ता है, जन्म मरण भी उसका दूसरों के सदृश ही होता है। फिर यह क्या बात है, जो वह विषिष्ट बुद्धि वाले और शूरवीर लोगों से परिपूर्ण इस पृथ्वी पर शासन करता है? यह क्या बात है जो उस अकेले के प्रसन्न होने पर सब प्रसन्न हो जाते हैं और उस अकेले के व्याकुल होने पर सब व्याकुल हो जाते हैं? इस संपूर्ण विषय पर मैं विस्तार के साथ जानना चाहता हूँ। भीष्म ने इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया—

एक समय ऐसा था, जब न राजा था और न ही राज्य की सत्ता थी। न तब दण्ड था और न कोई दाण्डिक था। उस समय सारी प्रजा धर्म द्वारा ही एक दूसरे की रक्षा किया करती थी। सब एक दूसरे का धर्मपूर्वक पालन किया करते थे। पर बाद में दैन्य उत्पन्न हुआ। उपभोग योग्य वस्तुओं की कमी हो गई। जिसके कारण मोह की उत्पत्ति हुई। मोह के कारण तब लोगों का ज्ञान नष्ट हो गया, जिससे की उनके धर्म का विनाश हो गया और वे लोभ के वशीभूत हो गये। लोभ के कारण तब मनुष्य अप्राप्य वस्तु को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करने लगे। लोभ से काम (वस्तुओं के संग्रह की कामना) और काम से राग (वस्तुओं में स्वत्व या स्वामित्व का विचार) उत्पन्न हुए। राग के कारण मनुष्यों को कार्य और अकार्य का विवेक नहीं रह गया। क्या गम्य है और क्या अगम्य, क्या वाच्य है और क्या अवाच्य, क्या भक्ष्य है और क्या अभक्ष्य, क्या दोष है और क्या अदोष— इसका विवेक भी तब नष्ट हो गया। इन बातों का ज्ञान नष्ट हो जाने से धर्म का भी नाश हो गया। यह दशा बड़े भय की थी। त्रस्त हुए लोग ब्रह्मा की शरण में गये और उनसे इस दशा से छुटकारा पाने का उपाय पूछा। इस पर ब्रह्मा ने उन्हें दण्डनीति का उपदेश दिया और इस दण्ड नीति के अनुसार राज्य संस्था, राजा और अन्य राजकर्मचारियों की उत्पत्ति हुई। इस दण्डनीति के अनुसार जब पृथु मनुष्यों का राजा बना, तो उससे यह आशा की गई कि वह इस बात का विचार नहीं करेगा, कि उसका अपना प्रिय या अप्रिय क्या है। वह सबके साथ समान व्यवहार करेगा, काम, क्रोध, लोभ, मोह से दूर रहेगा। जो कोई धर्म का उल्लंघन करेगा उसका वह निग्रह करेगा, और प्रजा को ब्रह्मा मानकर उसकी सुख व समृद्धि का प्रयास करेगा। भोजकृत—समरांगण—सूत्रधार तथा जैन साहित्य में भी राज्य की उत्पत्ति के इस सिद्धान्त का उल्लेख मिलता है।

मात्स्यन्याय और समझौते का सिद्धान्त — राज्य संस्था की उत्पत्ति के संबंध में जो सिद्धान्त प्राचीन भारत में सर्वाधिक मान्य था, उसे हम समयवाद, जैमवतल, विवर्षस बृदजतंबजद्ध कह सकते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य संस्था के प्रादुर्भाव से पूर्व जो अराजक दशा थी, वह बहुत भयंकर थी। उस समय सर्वत्र मात्स्यन्याय विद्यमान था। जिस प्रकार जल में बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है, उसी प्रकार समाज में बलवान व्यक्ति निर्बलों को सताते रहते थे। इस दशा से तंग आकर लोगों ने परस्पर 'समय' (समझौता) किया, और इस समझौते द्वारा एक व्यक्ति को अपना राजा बनाना तय किया। महाभारत के शांतीपर्व एवं रामायण में अराजक दशा की भयंकरता का वर्णन किया है। ऐसे राष्ट्र की दशा गोपाल (ग्वाले) के अभाव में गायों के समान हो जाती है क्योंकि इस दशा में किसी का भी जीवन सुरक्षित नहीं था। महाभारत के इस संदर्भ में राज्यसंस्था की उत्पत्ति का बड़े सुन्दर रूप से निरूपण किया गया है।

इसके अनुसार अराजक दशा से दुःखी जनता ने दो समय (समझौते) किये। एक आपस में दूसरा राजा के साथ। आपस में इन्होंने वह संविदा की कि हम में जो वाक्पूर (बढ़ बढ़कर बातें करने वाला या ढपोलपंख) दण्डपुरुष (क्रूर) और पारदारिक (परस्त्रियों का अपहरण करने वाला) हो, उसे हम बहिष्कृत कर देंगे और साथ ही उन व्यक्तियों को भी जो समझौते को भंग करेंगे। राजा से इन्होंने यह समझौता किया कि प्रजा अपनी आमदनी, कृषि उपज आदि का एक अंश उसे प्रदान किया जायेगा और उसे प्राप्त करके राजा उनका पालन करेगा एवं राज्य में सुख—षान्ति स्थापित करेगा। प्रजा ने अपने में से सबसे गुणवान एवं शक्तिशाली को राजा चुना। पाष्यात्य विचारकों हॉब्स, लॉक एवं रूसो ने भी सामाजिक समझौते के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

पूर्वी भारत के पाल वंश के प्रथम राजा गोपाल को भी इसी प्रक्रिया के द्वारा प्रजा ने अपना राजा चुना। पाल वंशीय राजा धर्मपाल के लखीमपुर से प्राप्त दानपत्र में इस घटना का विवरण प्राप्त होता है। वहां लिखा है कि मात्स्यन्याय को दूर करने के लिए प्रजाजनों ने गोपाल को लक्ष्मी का हाथ पकड़ाया। वह गोपाल राजाओं के सिरों पर चूड़ामणी के समान प्रतिष्ठित है। आचार्य चाणक्य ने भी 'अर्थशास्त्र' में राज्य संस्था की उत्पत्ति के संबंध में इस सिद्धान्त का उल्लेख किया है। इन्होंने लिखा है कि— 'मात्स्य न्याय से पीड़ित प्रजा ने वैवस्वत मनु को अपना राजा बनाया और अपने धान्य का छठा भाग तथा पण्य और सुवर्ण का दसवां भाग उसके 'भागधेय' के रूप में उसे प्रदान करने की व्यवस्था की। शुक्रनीतिसार में राजकीय कर को स्पष्ट रूप से राजा की वृत्ति या वेतन का नाम दिया गया है, जो राजा प्रजा से 'स्वभाग' के रूप में प्राप्त करता है और जिसके कारण वह जनता का दास्य स्वीकार करता है।

युद्ध मुलक सिद्धान्त — ऐतरेय ब्राह्मण में राज्य संस्था एवं राजा की उत्पत्ति के संबंध में एक अन्य सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है, जिसके अनुसार युद्ध की आवष्यकताओं से विवष होकर राजा का प्रादुर्भाव हुआ था। वहाँ लिखा है— 'देवों और असुरों में युद्ध हो रहा था। असुरों ने देवों को परास्त कर दिया। इस पर देवों ने कहा, क्योंकि हमारा कोई राजा नहीं है, इसी कारण असुर हमें जीत लेते हैं। हम भी राजा बना ले। इसे सभी स्वीकार किया। इस प्रकार राजा की उत्पत्ति हुई। इस सिद्धान्त में इस बात पर जोर दिया गया है कि युद्ध की आवष्यकताओं से विवष होकर ही राज्य—संस्था का प्रादुर्भाव हुआ। मानव समाज की प्रारंभिक दशा में मनुष्य जिन टोलियों व कबीलों में संगठित थे उनका जीवन सर्वथा शान्तिमय नहीं था। अपने चरागाहों, खेतों और बस्तियों की रक्षा के लिए उन्हें निरन्तर युद्ध की आवष्यकता होती थी। युद्ध का सुचारु रूप से संचालन करने के लिए किसी योग्य नेता का होना अनिवार्य होता है। युद्ध की आवष्यकता ने टोलियों, कबीलों और बस्तियों में एक ऐसे नेता का चुनाव किया, जो अपनी योग्यता, बल और साहस के कारण कुशलता से युद्ध का संचालन कर सके।

केवल युद्ध के अवसर पर ही नहीं, अपितु शांति के समय में भी लोग इस नेता के आदेशों का पालन करते थे। ऐतरेय ब्राह्मण ने राज्य संस्था के प्रादुर्भाव के इसी महत्वपूर्ण तत्व को प्रकट किया है। चंगेज खान ने 13 वीं सदी में दुनिया के सबसे बड़े साम्राज्य की स्थापना एक कबीले के सरदार के रूप में युद्धों के बल पर ही की थी।

दैवीय उत्पत्ति का सिद्धान्त – भारतीय संस्कृति धर्म प्राण है जहां प्रत्येक वस्तु के अस्तित्व के पीछे ईश्वर की सत्ता अथवा प्रेरणा को स्वीकार किया गया है। राज्य संस्था भी इसका अपवाद नहीं है। इसकी उत्पत्ति ईश्वर द्वारा हुई है, राजा जिस अधिकार से राज्य पर शासन करता है वह उसे ईश्वर से ही प्राप्त होता है, और इसी कारण राजा को देवता समझना चाहिए। यह सिद्धान्त भी भारत के प्राचीन ग्रंथों में विद्यमान है। मनुस्मृति के अनुसार 'संसार की रक्षा के लिए ईश्वर ने राजा की सृष्टि की। ईश्वर ने राजा का निर्माण इन्द्र, अग्नि, यम, सूर्य, वायु, वरुण, चन्द्र और कुबेर देवताओं से अंश लेकर किया। इसलिए वह सबकी आंखों और मनो को सूर्य के समान अपने तेज से तृप्त करता है एवं पृथ्वी पर कोई भी व्यक्ति उसकी ओर आंख उठाकर नहीं देख सकता। यदि कोई बालक भी राजा हो तो यह समझ कर उसका अपमान नहीं करना चाहिए कि वह तो अभी बालक ही है, क्योंकि नर के रूप में वस्तुतः वह एक 'देवता ही होता है। मनु ने यहां स्पष्ट रूप से इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि राजा देखने में यद्यपि एक साधारण मनुष्य प्रतीत होता है, पर वास्तव में उसे एक देवता समझना चाहिए। मत्स्य पुराण में भी यही सिद्धान्त प्रतिपादित है। इसमें लिखा है— 'सब प्राणियों की रक्षा के प्रयोजन से और न्याय पूर्वक दण्ड के प्रणयन के लिए देवताओं के अंश लेकर ब्रह्मा ने राजा की उत्पत्ति की है।' महाभारत के शांति पर्व में एक स्थान पर देव और राजाओं को एकतुल्य कहा गया है। शांति पर्व के इसी अध्याय में यह कथा उल्लेखित है कि सब देवता प्रजापति विष्णु के समक्ष उपस्थित हुए और उन्होंने उनसे पूछा मनुष्यों में ऐसा कौनसा व्यक्ति है जो उनमें श्रेष्ठ स्थान प्राप्त करने के योग्य है। इस पर प्रभु नारायण ने एक मानस पुत्र उत्पन्न किया, जिसका नाम विरजस था। उसने मनुष्यों का राजा होना स्वीकार नहीं किया। पर उसका पुत्र कीर्तिमान राजा बना और फिर क्रमशः कर्दम, अनंग और अतिबल राजा बने। इस कथा के अनुसार भगवान विष्णु द्वारा मनुष्यों के राजा को निर्धारित किया जाना सूचित है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी राजा के दैवीय होने के सिद्धान्त का निर्देश विद्यमान है। वहां लिखा है कि 'राजा इन्द्र और यम का स्थानीय होता है। कृपा और क्रोध उसमें प्रत्यक्ष रूप से होते हैं। जो कोई उसका अपमान करता है, उसे दैवीय दण्ड भी मिलता है।

ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी से भारतीय समाज में राजा को देवता मानने की भावना अत्यन्त प्रबल हो उठी। यहां तक की बौद्धों ने भी कालान्तर में राजा को सम्मति देव (प्रजा की सम्मति का देवता) कहना प्रारंभ कर दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि राजा की देवत्व संबंधि भावना को वेग प्रदान करने में कुषाणों का महत्वपूर्ण योगदान रहा। चीनी परंपरा के अनुकरण पर इस वंश के शासक अपने को 'देवपुत्र' कहते थे। गुप्तकाल तक आते-आते राजपद पूर्णता दैवीय मान लिया गया तथा सम्राट को दैवीयगुणों से संपन्न बताया गया। प्रयाग प्रशस्त में 'समुद्रगुप्त को पृथ्वी पर निवास करने वाला देवता कहा गया है जो वहीं तक मनुष्य था जहां तक लौकिक कार्यों को संपन्न करता था। इसी प्रकार सम्राट हर्ष को हर्षचरित ग्रंथ में सभी देवताओं का सम्मिलित अवतार बताया गया है। भारतीय समाज में जब अवतावाद का सिद्धान्त लोकप्रिय हो गया तब राजा को देवता का अवतार मान लिया गया। गहड़वाल वंशी राजाओं चन्द्र तथा गोविन्दचन्द्र को लेखों में क्रमशः ब्रह्मा तथा विष्णु का अवतार बताया गया है। इसी प्रकार पृथ्वीराजविजय में पृथ्वीराज को राम का अवतार बताया गया है।

किन्तु यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि भारतीय विचारक राजपद को दैवीय मानते हैं न कि उसे ग्रहण करने वाले व्यक्ति को। अधिकांश विचारकों ने राजा के कार्यों की समता देवताओं के कार्यों से करते हुए राजा को देवतुल्य बताया है। बहुत कम लेखक यह कहने का साहस करते हैं कि राजा स्वयं देवता है। प्राचीन शास्त्रकारों ने राजत्व में देवत्व का आरोपण केवल उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाने के उद्देश्य से ही किया ताकि उसके विरुद्ध बारम्बार विद्रोह न हो तथा प्रजा उसका सम्मान करे। बाणभट्ट ने राजा के देवत्व सिद्धान्त को धूर्त चापलूसों द्वारा गढ़ी हुई बात बताते हुए लिखा है कि जो शासक इसके बहकावे में आकर अपने को देवता समझ बैठते हैं, वे प्रजा के उपहास के पात्र बनते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि यूरोप की भांति भारत में देवत्व का सिद्धान्त राजा की निरंकुषता का समर्थन करने के लिए प्रतिपादित नहीं किया गया। देवत्व की आड़ में यहां कोई भी शासक अपने दुराचार एवं अत्याचार का समर्थन नहीं कर सकता था। यहां केवल नेक तथा धार्मिक राजा ही देवतुल्य माने जाते थे। उसके विपरित दुराचारी शासकों को राक्षसों के समान माना गया है। देवत्व सिद्धान्त के पूर्ण समर्थक मनु ने भी यह विचार व्यक्त किया है कि 'धर्म विरुद्ध राजा अपने बधुबान्धवों के साथ मारा जाता है। शुक्र का भी मत है कि केवल धर्मात्मा राजा ही देवता होता है। धर्म के आदेशों का अतिक्रमण करने वाला तथा प्रजा का उत्पीड़न करने वाला शासक वस्तुतः राक्षसों के अंश से निर्मित होता है जो नरक में जाता है। शुक्र ने तो यहाँ तक लिखा है कि जो राजा धर्म की उन्नति में लगा रहता है देवता उसके सेवक बन जाते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में राजा के देवत्व की कल्पना उसके पद को प्रतिष्ठा एवं गरिमा प्रदान करने के उद्देश्य से ही की गई थी। भारतीय विचारक यूरोपिय विचारकों के इस मत से असहमत थे कि 'राजा कोई गलती नहीं कर सकता।'

ऐतिहासिक उत्पत्ति का सिद्धान्त – ए.एस. अल्तेकर जैसे विद्वान राज्य की उत्पत्ति का प्रश्न ऐतिहासिक ढंग से हल करने का प्रयास करते हैं। उनके अनुसार आर्य जातियों में पितृसत्तात्मक संयुक्त परिवार के बीज से ही क्रमशः राज्य संस्था की उत्पत्ति संभव हुई। तुलनात्मक भाषा विज्ञान के आधार पर पता चलता है कि अपने मूल स्थान में रहते हुए भी आर्य लोग संयुक्त

परिवारों में रहते थे। होमर के विवरण से पता चलता है कि कभी कभी एक ही परिवार में दो-तीन सौ तक लोग रहा करते थे। परिवार के स्वामी का उसके सदस्यों पर पूर्ण एवं निरंकुष अधिकार होता था। वह अपनी इच्छा से किसी भी सदस्य को बंधक रख सकता था, बेच सकता, अपराध करने पर अंग-भंग कर सकता था अथवा उसकी हत्या तक करा सकता था। रोम में परिवार के स्वामी को इस प्रकार के अधिकार प्राप्त थे। कुछ वैदिक मंत्रों से पता चलता है कि यहां भी परिवार के स्वामी पिता को अपने अधिन सदस्यों के ऊपर इसी प्रकार के अनियंत्रित अधिकार मिले हुए थे। ऋग्वेद में एक स्थान पर ऋज्जास्व का उल्लेख है जिसकी लापरवाही से उसकी पिता की एक सौ भेड़ों को भेड़िये खा गये। इस पर क्रुद्ध होकर पिता ने उसे अंधा बना दिया। एक अन्य स्थल पर शूनः शेष की कथा मिलती है कि जिसे पिता ने परिवार को भुखमरी से बचाने के लिए बेच दिया। इस प्रकार अनेक उद्धारणों से सिद्ध होता है कि पिता, राजा की भांति परिवार के सदस्यों पर शासन करता था। कालान्तर में संयुक्त परिवार के विस्तृत होने के साथ ही साथ पिता के अधिकारों में भी वृद्धि हुई। एक ही गांव में कई संयुक्त परिवार निवास करते थे जो अपने को समान पूर्वज की संतान मानते थे। जो परिवार सबसे बड़ा होता था उसका स्वामी अन्य ग्राम वृद्धों की सहायता से गांव का शासन चलाता था। उसे सभी सम्मान देते थे। ऋग्वेद से सूचित होता है कि आर्य समाज में कुटुम्ब, जन्मन, विष तथा जन होते थे। जन्मन से तात्पर्य उस ग्राम से है जिसमें समान पूर्वज से अपनी उत्पत्ति मानने वाले परिवार रहते थे। कई ग्रामों का समूह 'विष' कहलाता था। जिसका प्रमुख 'विषपति' होता था। कई विष मिलकर जन का निर्माण करते थे 'जन के शासक को राजन् कहा जाता था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत में भी संयुक्त कुटुम्ब पद्धति ही राज्य की उत्पत्ति में सहायक सिद्ध हुई। कुटुम्ब के विस्तार के साथ-साथ उसके अधिपति के अधिकारों में भी वृद्धि होती गई तथा अन्ततोगत्वा उसने राजा का स्वरूप धारण कर लिया।

संदर्भ ग्रंथ सूची –

1. श्रीवास्तव, के.सी.– प्राचीन भारत का इतिहास, अजमेरा बुक कम्पनी, जयपुर 2011-12
2. शर्मा डॉ. कृष्ण गोपाल, जैन, हुकुमचन्द, शर्मा, डॉ. मुरारीलाल– भारत का इतिहास, अजमेरा बुक कम्पनी, जयपुर 2011-12
3. त्रिपाठी, रमाशंकर– प्राचीन भारत का इतिहास, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1998
4. विद्यालंकार, सत्यकेतु – प्राचीन भारत की शासन संस्थाएँ और राजनीतिक विचार, श्रीसरस्वती सदन, नई दिल्ली, 1996
5. मुखर्जी, राधा कुमुद– प्राचीन भारत, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
6. पाण्डेय, राजबली– प्राचीन भारत, विश्वविद्यालय प्रकाश, वाराणसी, 1994
7. मिश्र, जयशंकर– प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना, 1999